धर्म

श्याम शंकर उपाध्याय
पूर्व जनपद एवं सत्र न्यायाधीश/
पूर्व विधिक परामर्शदाता मा0 राज्यपाल
उत्तर प्रदेश, राजभवन
लखनऊ।
मो0- 9453048988
ई-मेलः ssupadhyay28@gmail.com

सभ्य मानव समाज का जबसे ज्ञात इतिहास उपलब्ध है, तबसे ही ''धर्म'' मानव समाज के नितान्त सशक्त नियामक कारक के रूप में विद्यमान रहा है। संसार के विभिन्न भू–भागों में इतिहास के विभिन्न कालखण्डों में विकसित समस्त सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का कोई न कोई धर्म अवश्य रहा है। संसार के समस्त मानव समाज का अधिकांश हिस्सा किसी न किसी धर्म से हमेशा अनुप्राणित रहा है। वैदिक युग से आज तक भारतीय मनीषियों ने धर्म को जीवन और सृष्टि का आधार और नियामक माना है। फिर क्या मठों मन्दिरों, तीर्थस्थानों, धार्मिक पुस्तकों, धार्मिक अनुष्ठानों, उपासना पद्धतियों, प्रक्रियात्मक धार्मिकता व कर्मकाण्ड (procedural religiosity or rituals) धर्म प्रवर्तकों, कथाकारों, स्वामी व सन्यासियों तक ही धर्म की सत्ता सीमित है अथवा वही इसके स्रोत हैं या फिर धर्म की व्यापकता व निरन्तरता इन सबसे परे भी है। भारतीय दर्शन एवं चिन्तन परम्परा में ''धर्म'' की परिभाषा एवं उसकी व्यापकता का बोध निम्नांकित संदर्भों से सहज ही हो जाता है : ''**धर्मेण धार्यते लोकः**'' *(अर्थात् धर्म ही संसार को धारण किए हुए है और उसका नियमन कर रहा है)*। शब्द 'धर्म' संस्कृत भाषा के 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'धारणाद् धर्मः' अर्थात् धारण करने योग्य। ऐसा विचार, व्यवहार व आचरण जो स्वयं व जगत के लिए भी कल्याणकारी होने के फलस्वरूप धारण करने योग्य हो, वह धर्म है। कणाद मुनि के मतानुसार ''**यतोभ्युदय निश्रेयस सिद्धिः स धर्मः**'' अर्थात् जो कार्य अथवा आचरण प्राणियों के लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण में सहायक हो, वही धर्म है। '**दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः**' कहा गया है जिसका अर्थ है–दुर्गति में पड़ी हुयी आत्मा को जो तत्व धारण करके रखता है वही धर्म है। गीता में '**यतो धर्मस्ततो जयः**' कहा गया है जिसका तात्पर्य है–जहां धर्म अर्थात् सत्य होता है वहां विजय होती है । इस प्रकार 'धर्म' सत्य का पर्याय होता है । धर्म की गति को नितान्त वेगमयी मानते हुए विद्वानों ने ''**धर्मस्य त्वरिताः गतिः**'' कहा है। नश्वर जगत में एकमात्र ''धर्म'' को ही स्थायी, शास्वत व निरन्तर बताते हुए भर्तृहरि ने धर्म की व्यापकता को इस प्रकार प्रकट किया है : ''**चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं जीवित–यौवनम्, चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः**''**(वैराग्य शतक)** : *अर्थात् लक्ष्मी चंचला हैं, प्राण भी चलायमान अथवा नश्वर है,*

जीवन एवं युवावस्था भी चलायमान अथवा नश्वर है। इस प्रकार इस अस्थिर अथवा चलायमान संसार में एक मात्र धर्म ही स्थिर व अटल है।

मनीषीजनों का स्वयं का मत रहा है : **तर्को अप्रतिष्ठा, श्रुतियो विभिन्नाः, नैको ऋषिः यस्य मतं प्रमाणं। धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गता स पन्थाः।। मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना, वादे वादे जायते तत्वबोधः।**

''धर्म'' की परिभाषा करते हुए महाराज मनु ने धर्म के दस लक्षण इस प्रकार बताए हैं : ''**धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रयनिग्रहः, धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्**'' (***मनुस्मृति,अध्याय 6***) : (*धर्म के दस लक्षण इस प्रकार हैं : 1. धारणाशक्ति अर्थात् सद्वृत्तियों को धारण करने की क्षमता 2. क्षमाशीलता 3. दम 4. अपरिग्रह 5. मन, वचन व कर्म की पवित्रता 6. इन्द्रियों एवं उनके विषयों पर नियन्त्रण 7. बुद्धि 8. विद्या 9. सत्य 10. अक्रोध अर्थात् क्रोध की विपरीत अवस्था अथवा सौम्यता*)। उपरोक्त सद्वृत्तियों से परिपूर्ण चिन्तन व कर्मरूपी धर्म के सम्बन्ध में इसीलिए कहा गया है **''धर्मो रक्षति रक्षितः''** अर्थात् *धर्म स्वयं उसकी रक्षा करता है जो धर्म की रक्षा करता है।* इसी प्रकार समस्त प्रकार के सुखों का स्रोत 'धर्म' को कहते हुए आचार्य चाणक्य ने ''सुखस्य मूलं धर्मः'' कहा है । शास्त्रोक्ति है कि ''**स्वधर्मे मरणं श्रेयः, परधर्मो भयावहः**'' जिसका तात्पर्य है कि अपने धर्म का पालन करते हुए मर जाना श्रेयस्कर है बजाय कि दूसरे के धर्म का अनुगमन करते हुए भयावह स्थिति को प्राप्त होने से। श्रीमद्भगवत गीता में कहा गया है '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः**' जिसका अर्थ है–अपने धर्म का पालन करते हुये मृत्यु को प्राप्त हो जाना श्रेयष्कर है क्योंकि दूसरे के धर्म का अनुसरण करना भयानक परिणाम देने वाला होता है।

आध्यात्मिक उद्देश्य के लिए किए गए धर्मसम्मत आचरण के अतिरिक्त लोक मर्यादा के निर्वहन हेतु भी धर्म की महती उपादेयता है। राष्ट्रधर्म, राजधर्म, लोकधर्म, कुलधर्म, माता–पिता का धर्म, गुरूधर्म, स्त्रीधर्म की चर्चा प्रायः जिन अर्थों में की जाती है उसका आशय वस्तुतः हमेशा से यही रहा है कि एक ही मनुष्य विभिन्न परिस्थितियों में तथा विभिन्न लोगों के प्रति समाज द्वारा प्रारम्भ से ही अपेक्षित अपने–अपने स्वाभाविक कर्तव्य का निर्वाह करे और यही उसका स्वाभाविक धर्म है। इस प्रकार वस्तु का स्वभाव तो धर्म होता ही है, साथ ही स्वभाव के अनुरूप अर्थात स्वभावपर्याय को भी धर्म कहा जाता है। जिस प्रकार प्रकृति प्रदत्त विशिष्टता के कारण अग्नि का धर्म अथवा स्वभाव जलाना है, वायु व जल का स्वभाव प्रवाहमान रहना है, बिच्छु व सर्प जैसे जीवों का धर्म अथवा स्वभाव विषवमन करना है आदि। अतः धर्म कर्मों की स्वाभाविकता का भी वाहक है।

नास्तिक मनुष्य वर्गों में ''नास्तिकता'' के सिद्धान्त धर्मनिष्ठ मानव समाज की धर्मनिष्ठा के समतुल्य ही आद्रित रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में नास्तिक वह है जो स्वयं पर विश्वास नहीं रखता है। नास्तिक–मत के प्रवर्तक आचार्य चार्वाक सहित धर्म को अफीम कहने वाले मार्क्स व लेनिन आदि नास्तिक चिन्तकों की नास्तिकता की विचारधारा में उतनी ही गहरी आस्था रही है जितनी कि धार्मिकों की अपने धार्मिक विश्वासों में। नास्तिक दर्शन वस्तुतः शरीर, जीवन, पदार्थ, भौतिकता एवं तार्किकता से इतर वस्तुओं एवं सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करता है। **महर्षि चार्वाक** के शब्दों में

धर्म–शून्यता अथवा नास्तिकता की दृष्टि से मनुष्य के जीवन का अभीष्ट निम्नवत् है : **''यावज्जीवेत् सुखम् जीवेत्, ऋणम् कृत्वा घृतं पिबेत्, भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनो कुतः''** *(अर्थात् मनुष्य जब तक जीवित रहे, सुखपूर्वक रहे और ऋण लेकर भी घी पीवे क्योंकि शरीर के एक बार भस्मीभूत अर्थात् जलकर राख हो जाने के पश्चात् संसार में पुनः आगमन कहाँ होता है) ।* ईश्वर की सत्ता का आभास कर लेने पर इस्लाम धर्म के मशहूर इमाम व खलीफा हजरत अली ने अपनी अनुभूति इस प्रकार व्यक्त की है ***''मैंने खुदा को अपने इरादों की शिकस्त में पहचाना ।''*** हिन्दी–उर्दू के मशहूर कवि डॉ0 कुँवर बेचैन ने जीवन की अनित्यतता को इस प्रकार व्यक्त किया है : ''***अपने दामन को भिगोती ही चली जाती है, जिन्दगी रोई तो रोती ही चली जाती है। नेक कामों में कभी न देर न कीजै साहब, देर होती है तो होती ही चली जाती है ।***'

भक्ति एवं धर्म के भेद को व्याख्यायित करते हुए महर्षि नारद ने निम्नांकित सूत्र दिया है : **''निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः''** *(नारद भक्ति–सूत्र) : अर्थात् भक्ति से परिपूर्ण सेवा अथवा लोक कर्म में आसक्ति की वर्जना का तात्पर्य समस्त प्रकार के लौकिक एवं वैदिक आदेशों से प्रेरित धार्मिक क्रिया कलापों के परित्याग से है*। गीता में भी भगवान कृष्ण ने अर्जुन से धर्म और भक्ति के विभेद को स्पष्ट करते हुए कहा है : **''सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः''** (*अर्थात् हे अर्जुन, तुम अपने समस्त धर्मो का परित्याग करके एक मात्र मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुम्हे तुम्हारे समस्त पापों से मुक्ति दे दूँगा)*

लोकमर्यादा को प्रवर्तित करने वाला लोकधर्म वस्तुतः लोक सापेक्ष व काल सापेक्ष होता है, स्थिर होते हुए भी गतिशील होता है। त्रेतायुग में ''राजसत्ता'' के प्रथम अधिकारी होते हुए भी राम अपने इस अधिकार को प्रजा के आग्रह व दबाव के उपरान्त भी लोकमर्यादा अथवा लोकधर्म की रक्षा के लिए छोड़कर वनवास के लिए चले जाते हैं परन्तु द्वापर युग में इसी राजसत्ता सम्बन्धी अधिकार के लिए पाण्डवों व कौरवों के मध्य महाविनाशकारी महाभारत का युद्ध होता है। धर्म और अधर्म का अर्थ बहुधा बहुत से मनुष्यों को स्पष्ट होते हुए भी वह प्रायः उसी प्रकार अधर्म में आसक्तिवान होकर लिप्त हो जाते हैं जैसे कौरवों और पाण्डवों के बीच महाविनाशकारी महाभारत के युद्ध को टालने एवं उन्हें इसके लिए तैयार करने के प्रयोजन से श्रीकृष्ण के द्वारा धर्म व अधर्म आदि का उद्धरण देते हुए समझाने पर दुर्योधन ने श्रीकृष्ण से इन शब्दों में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी कि *:* **''जानाम्यधर्मम् न च मे निवृतिः, जानामि धर्मम् न च मे प्रवृतिः''** *(अर्थात् अधर्म क्या है इसे मैं जानता हूँ परन्तु उससे मेरी निवृत्ति अथवा मुक्ति नहीं है और धर्म क्या है उसे भी मैं जानता हूँ परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति अथवा रूचि नहीं है*)। धर्मसम्मत मार्ग से विमुख होने और अधर्मपरायण होने का मनुष्य के जीवन में और समाज में भी किस प्रकार के अनिष्टकारी भयावह परिणाम हो सकते हैं यह धर्म–विमुख दुर्योधन के हस्र से सहज ही समझा जा सकता है। महाभारत के स्वर्गारोहणपर्व में महर्षि वेदव्यास ने कहा है **''ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे, धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते''** *(मैं अपनी दोनों भुजाएं उठाकर यह बात दावे के साथ कह रहा हूँ कि धर्म के पालन से ही अर्थ और काम की पूर्ति सम्भव है परन्तु फिर भी कोई मेरी बात सुनता ही नहीं है । इसलिए यदि अर्थ और काम की प्राप्ति चाहते हो तो धर्म का पालन क्यों नहीं करते हो ?)।*

विविध प्रकार की प्रचलित पूजा पद्धतियॉ व कर्म–काण्ड किस प्रकार वास्तविक धर्म एवं अध्यात्म की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकती हैं, इसका प्रमाण निम्नांकित मंत्र से मिलता है : ''प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः, अष्टादशोक्तमवरं येषुकर्म, एतच्छेयं येभिनन्दन्ति मूढाः, जरा मृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति'' (*मुण्डकोपनिषद्*) : (*शास्त्रों द्वारा निरूपित अठारह प्रकार की यज्ञ अथवा पूजा पद्धतियॉ कमजोर लकड़ी से बनी हुई उन नावों की तरह हैं जिनके सहारे यदि कोई मनुष्य सागर को पार करना चाहे तो डूब जायेगा, उसी प्रकार वह मूढ व्यक्ति जो अठारह प्रकार की पूजा पद्धतियों आदि का ही आश्रय लेकर इस संसार रूपी सागर को उत्तीर्ण करना चाहता है, वह भी बार–बार जन्म व मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् घोर अविद्या व अज्ञान से ग्रस्त होकर विनष्ट हो जाता है*)। धर्म, अध्यात्म, अर्थ, राजनय, लोकनीति आदि के परमाचार्य चाणक्य ने भी ''धर्म'' की उपरोक्त लोकोत्तर विशिष्टता से रहित पूजा आदि पद्धतियों की निरर्थकता को स्पष्ट करते हुए इस प्रकार कहा है : **''अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनश्च ऋत्विजः, यजमानं दानहीनोश्च नास्ति यज्ञसमो रिपुः''** अर्थात् *ऐसी पूजा व यज्ञ अनुष्ठान जिसमें विशुद्ध स्रोत से प्राप्त किए गए अन्न का प्रयोग नहीं किया गया हो उस यज्ञ के करने से राष्ट्र नष्ट होता है, पुरोहित ने यदि मन्त्रों का सही उच्चारण/उपयोग नहीं किया हो तो उस पुरोहित का नाश हो जाता है, यजमान ने यदि सत्पात्रों को दान नहीं दिया हो तो उस यजमान का नाश हो जाता है और यदि कोई पूजादि अथवा याज्ञिक अनुष्ठान उपरोक्त दोषों के साथ किया गया हो तो दोष युक्त पूजा अथवा यज्ञादि से बढ़कर कोई दूसरा शत्रु नहीं हो सकता है ।* मनुष्य के लिए संसार में करणीय, अकरणीय, धर्म, अधर्म आदि विपरीत अवधारणाओं के मध्य अनुसरणीय विकल्प क्या है, इसे ईशावास्योपनिषद् में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है : **''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतॅसमाः, एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे'' (ईशावास्योपनिषद्) :** अर्थात् *हे मुनष्य ! इस संसार में सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखते हुए तुम समस्त करणीय कर्मों को कर्म के फल में आसक्ति किए बिना करो क्योंकि इससे पृथक संसार में तुम्हारे समक्ष दूसरा विकल्प नहीं है।*

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च, व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च, भार्या द्वारपर्यन्तं, मित्राणि यान्ति ग्रामान्तम्, वान्धवाः श्मशानपर्यन्तं, धर्मो याति तदन्तरम् (*चाणक्यनीति दर्पण*) : अर्थात् *विदेश में विद्या, घर में पत्नी तथा रोग से पीड़ित व्यक्ति का मित्र औषधि होती है परन्तु मृत व्यक्ति का मित्र एकमात्र धर्म ही होता है। मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी घर के दरवाजे तक, ग्रामीण मित्र आदि ग्राम की सीमा तक, बन्धु–बान्धव श्मशान तक ही साथ जाते हैं परन्तु उसके बाद केवल धर्म ही मृतक के साथ जाता है* । **त्यजेद् धर्मं दयाहीनं विद्याहीनं गुरुं त्यजेत्, त्यजेत् क्रोधमुखीं भार्यां निःस्नेहान् बान्धवॉस्त्यजेत् (*चाणक्यनीति दर्पण*) :** *दया से हीन धर्म, ज्ञान से हीन गुरू, निरन्तर क्रोध करने वाली पत्नी एवं स्नेह नहीं रखने वाले बन्धु–बान्धवों का परित्याग कर देना चाहिए* । **धर्माधर्मो सुखं दुःखमिच्छाद्वेषौ तथैव च, प्रयत्नज्ञानसंस्काराः आत्मलिंगमुदाहृतम्, धर्मादर्थार्थतः कामः कामात् सुखफलोदयः, आत्मानंहन्तितान् हत्वा युक्त्या यो न निषेवते (*कौटिल्य अर्थशास्त्र*) :** *धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, संस्कार आत्मा के लिंग कहे गए हैं और जहॉ यह सब होंगे वहॉ आत्मा की स्थिति अवश्य ही होगी। धर्म से अर्थ, अर्थ से काम तथा काम से सुख के फल का उदय होता है। जो व्यक्ति युक्तिपूर्वक इनका सेवन नहीं करता, वह इन सबका नाश करते हुए स्वयं को भी नष्ट कर लेता है* । **मत्तः प्रमत्तश्चोन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः, लुब्धो भीरूस्त्वरायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित्,** अर्थात् *मत्त, प्रमत्त, उन्मत्त, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, लोभी, कायर, बिना विचार किए हुए कार्य करने वाला तथा कामी पुरूष धर्म का ज्ञाता नहीं हो सकता हैं ।* एक हास्य दन्तोक्ति में विविध प्रकार की पूजा करने वाले व्यक्तियों की पूजा की प्रकृति का निरुपण करते हुए किसी हास्य कवि का नजरिया देखिए : **'पूजा तीन प्रकार की, छोटी, बड़ी, मझोल ।**

द्वार रहे छोटी करे, राहे करे मझोल । द्वार पराये जाये तो, देय बड़ी का खोल ।'' वास्तविक धर्म, पूजा व उपासना के मर्म को समझे बिना उपासना व पूजा आदि का मात्र दिखावा करने वाले असन्तों पर व्यंग्य करते हुए किसी व्यंग्य कवि का दृष्टिकोण देखिए : ''जगत ठगत सो भगत है, भगत ठगत सो सन्त । जो सन्तन को ठगत है, वाको नाम महन्त ।''

भारत के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सनातन हिन्दू धर्म की परिभाषा इस प्रकार की गयी है : "Religion incorporates the particular belief(s) that a group of people subscribe to. Hinduism, as a religion, incorporates all forms of belief without mandating the selection or elimination of any one single belief. It is a religion that has no single founder; no single scripture and no single set of teachings. It has been described as Sanatan Dharma, namely, eternal faith, as it is the collective wisdom and inspiration of the centuries that Hinduism seeks to preach and propagate. Hinduism encompasses wide expanse of beliefs, thoughts and forms of worship without any divergence or friction within itself or amongst its adherents. Image worship is a predominant feature of Hindu religion." देखें : कृष्णाभट्टाचार्जी प्रति सारथी चौधरी, (2016) 2 सुप्रीम कोर्ट केसेज 705 *(प्रस्तर 1, 35 व 36)*

धर्माख्याने श्मशाने च रोगिणां या मतिर्भवेत्, सा सर्वदैव तिष्ठेच्चेत् को न मुच्येत् बन्धनात् (*चाणक्यनीति दर्पण*) : अर्थात् *धर्म का उपदेश सुनने से, श्मशान में जाने से, रोगियों को देखने से मनुष्य के मन में जो विचार उत्पन्न होता है यदि वही विचार स्थायी रूप से मनुष्य के साथ रहे तो संसार के बन्धनों से भला कौन मुक्त नहीं हो जावेगा* । न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः, वृद्धाः न ते ये न वदन्ति धर्मम्, धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति, सत्यं न तद्यअलमभ्युपैति जिसका अर्थ है कि *वह सभा सभा नहीं है जिसमें वृद्ध पुरूष न हों, वह वृद्ध वृद्ध नहीं है जो धर्मसम्मत बात नहीं कहे, जिसमें सत्य नहीं हो वह धर्म नहीं है और वह सत्य नहीं है जो छल से युक्त हो* । आहार–निद्रा–भय–मैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्, धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः (*हितोपदेशः*) : अर्थात् *आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन जैसी आवश्यकताएं मनुष्यों एवं पशुओं में एकसमान हैं। पशुओं की तुलना में मनुष्यों में धर्मतत्व का विशिष्ट रूप से होना ही मनुष्यों की श्रेष्ठता का कारण है और धर्म से विहीन मनुष्य भी वास्तव में पशु के ही समान है* धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोपि न विद्यते, अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्मनिरर्थकम् (*हितोपदेशः*) : जिसका तात्पर्य है कि *जिस मनुष्य को पुरूषार्थचतुष्टय अर्थात् जीवन के चार सार्थक तत्वों : धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से एक की भी प्राप्ति नहीं हुई, उसका जीवन उसी प्रकार निरर्थक चला गया जैसे बकरी के गले में स्थित उसका थन* । इज्याअध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा, अलोभ इति मार्गोयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः, तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते, उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति (*हितोपदेशः*) : *धर्म के आठ मार्ग इस प्रकार हैं : 1. यज्ञ अथवा उपासना 2. अध्ययन 3. दान 4. तप 5. सत्य 6. सद्वृत्तियों को धारण करने की क्षमता 7. क्षमा 8. लोभहीनता। इनमें से प्रथम चार अर्थात् यज्ञ अथवा उपासना, धर्मशास्त्रअध्ययन, दान व तप तो प्रायः दम्भ अथवा पाखण्ड के प्रदर्शन हेतु भी प्रयुक्त होते हैं जबकि शेष चार अर्थात् सत्य, सद्वृत्तियाँ, क्षमा व लोभहीनता केवल महान अथवा श्रेष्ठ पुरूषों में ही मिलती है।* अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनमायुष्यं, जललोलबिन्दुचपलं फेनोपमं जीवितम्, धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोछाटनं, पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते(*हितोपदेशः*) : अर्थात् *धन तो चरणों की धूलि के समान है, यौवन पहाड़ की नदी के वेग के समान है, आयु चंचल जल की बिन्दु के समान चपल है और जीवन फेन अथवा झाग के समान है। इसलिए जो निर्बुद्धि मनुष्य स्वर्ग की साकल (अर्गला) को खोलने वाले ''धर्म'' को जीवन*

में आत्मसात नहीं करता है वह वृद्धावस्था में केवल पश्चाताप करता रह जाता है और संसार की शोकरूपी अग्नि में जलाया जाता है ।

*****